सैलवोज़ ऐडवर्टाइजिंग

आनंद विवेक तनेजा

सैलवोज़ ऐडवर्टाइज़िंग दरियागंज में स्थित एक विज्ञापन-फ़िल्म वितरण कंपनी है। इस कंपनी में मेरी दिलचस्पी तब बढ़ी जब लगातार तीन दिनों में मैं तीन अलग-अलग सिनेमा हॉलों - 'गोलचा', 'चाणक्य', और 'वेव', नोएडा में गया, और मैंने उनमें फ़िल्म आरंभ होने के पहले दिखाए जाने वाले विज्ञापन देखे जो कि 'सैलवोज़' की पेशकश थीं।

बार-बार फ़ोन करने और सैलवोज़ के दफ़्तर के तीन चक्कर काटने के बाद आख़िरकार 'सैलवोज़ ऐडवर्टाइज़िंग' के जनरल मैनेजर जनाब पीजे चाको से मेरी मुलाक़ात हुई।

चाको साहब ने बताया कि भारत में सिनेमाघरों में विज्ञापन की शुरुआत 'ब्लेज़ ऐडवर्टाइज़िंग' ने की थी। 1945 में श्रीमती फ़्रैनी वेरेईवा और श्री बिजलानी की जोड़ी ने मुंबई में इसकी नींव डाली थी। हिन्दुस्तान समेत लाहौर और कराची में उनके दफ़्तरों का नेटवर्क था। अगले चालीस सालों तक बाज़ार में ब्लेज़ की इज़ारेदारी बनी रही। सैलवोज़ के संस्थापक श्री ऑसेफ़ और खुद श्री चाको पहले 'ब्लेज़' के साथ ही काम किया करते थे।

चाको साहब के शब्दों में कहें तो 1980 के दशक के मध्य में 'पूर्ण क्रांति आ गयी और सब कुछ बदल गया'। रंगीन टेलीविज़न के आगमन और उससे जुड़ी 'वीडियो क्रांति' के कारण 'ब्लेज़' के ज़्यादातर ग्राहक अब सिनेमा से दूर टीवी या वीडियो की ओर चले गए। चाको साहब यह कहते हुए कि 'तब कोई हाई प्रोफ़ाइल' फ़िल्में नहीं निकलीं - उस ज़माने की फ़िल्मों की गुणवत्ता को भी दोषी ठहराते हैं। इस कारोबार में 'ब्लेज़' की दिलचस्पी ख़त्म हो गयी और उसने दूसरे धंधों तरह की तरफ़ अपना रुख़ कर लिया, जिनमें 'ब्लेज़फ़्लैश' कूरियर भी था।

श्री ऑसेफ पहले 'ब्लेज़ ऐडवर्टाइज़िंग' के उत्तर भारत के प्रमुख थे। उन्होंने 1981 में 'सैलवोज़ ऐडवर्टाइज़िंग' की शुरुआत की। सैलवोज़ की शुरुआत छोटे स्तर पर हुई थी। पहले वह सिर्फ़ उन विज्ञापन फ़िल्मों का वितरण करती थी जो टीवी पर नहीं दिखायी जा सकती थीं, मसलन, शराब, तम्बाकू और सिगरेट। तब इन चीज़ों के विज्ञापन सिनेमा हॉलों में ही दिखाए जाते थे। नब्बे के दशक में कारोबार फिर रफ़्तार पकड़ने लगा। अब लोग सिनेमा हॉलों की ओर वापस आने लगे और उनके पास ख़र्च करने के लिए पहले की अपेक्षा ज़्यादा पैसे थे। नब्बे के दशक के मध्य से - जब मल्टीप्लेक्स थिएटर पूरे ख़ानदान

के लिए जश्न और सैर-सपाटे का ठिकाना बन गए - कारोबार में और तरक़्क़ी होने लगी।

चाको साहब के मुताबिक़ एक विज्ञापन दिखाकर वसूली जाने वाली रक़म का न तो वहाँ दिखायी जाने वाली फ़िल्म से और न ही किसी शो की टाइमिंग से कोई ताल्लुक़ होता है। जो दरें वो माँगते हैं, वो सिर्फ़ सिनेमा की गुणवत्ता पर निर्भर करते हैं, और पैसा सीधा सिनेमा को दिया जाता है। सिनेमा हॉल के साथ उनका एक से तीन साल का क़रार होता है। सिनेमा हॉलों को हर शो के लिए पाँच, दस या पंद्रह मिनट के 'स्क्रीन टाइम' के हिसाब से भुगतान किया जाता है। ज़्यादातर लेन-देन मासिक आधार पर किए जाते हैं।

एक सिनेमा की गुणवत्ता कैसे जाँची-परखी जाती है?

चाको साहब के मुताबिक़ इसके चार पहलू हैं :

1. भौगोलिक स्थिति : सिनेमा कहाँ मौजूद है। फ़िलहाल सिनेमा का मॉल में होना सबसे बेहतर स्थिति है।

2. प्रसाधन एवं सुविधाएँ : दर्शकों को सिनेमा कौन-कौन-सी सुविधाएँ और प्रसाधन मुहैया करता है, जैसे एयरकंडिशनिंग, शौचालय, पॉपकॉर्न; और सिनेमा की लोकेशन उन्हें कौन-कौन-सी सुविधाएँ प्रदान कराती हैं, मसलन दुकानों की क़रीबी, रेस्तराँ की क़रीबी, वग़ैरह-वग़ैरह।

3. माहौल - किस 'तबक़े/वर्ग' के लोग सिनेमा में आते हैं।

4. पहली रिलीज़ - अगर हॉल 'पहली रिलीज़' सिनेमा है, जिसमें नयी फ़िल्में सबसे पहले रिलीज़ होती हैं तो उस हॉल को उन सिनेमा हॉलों से ज़्यादा मान्यता मिलती है जो उन फ़िल्मों को दो हफ़्ते या उसके बाद दिखाते हैं।

इन मापदंडों के हिसाब से सिनेमा हॉलों को 'प्रीमियम', 'ए', 'बी' या 'सी' के दर्जे मिलते हैं। और जो रक़म सिनेमा हॉल को दी जाती है तथा जो ग्राहकों से ली जाती है - वह इन्हीं दर्जों के हिसाब से तय होती है। चूँकि सैलवोज़ का नेटवर्क पूरे उत्तर भारत में फैला हुआ है, शहरों को भी अलग-अलग श्रेणियों में बाँटा गया है। जैसे 'मेट्रो' (महानगर), 'मिनी मेट्रो' (लघु महानगर) और 'मिलियन प्लस' शहर (दस लाख की आबादी के ऊपर) और छोटे, दूर-दराज़ के शहर। छोटे शहरों में विज्ञापन दिखाने की दर एक सिनेमाघर के लिए दो-तीन सौ रुपए प्रति हफ़्ते तक गिर जाती है, जबकि दिल्ली में ये दर प्रति हफ़्ते दस हज़ार रुपए भी हो सकती है। सैलवोज़ स्लाइडों का भी वितरण करता है जिसका इस्तेमाल स्थानीय ग्राहक करते हैं या फिर बड़ी कंपनियाँ स्थानीय अवसर के लिए करती हैं। स्लाइडों की मासिक दर विज्ञापन फ़िल्मों के साप्ताहिक दर से थोड़ी ज़्यादा होती है। दिल्ली के अच्छे सिनेमा हॉल के लिए यह बारह से पन्द्रह हज़ार रुपए तक होती है। ग्राहक अपने बजट के हिसाब से सिनेमा हॉल चुनते हैं, और सैलवोज़ द्वारा दिए गए आँकड़ों का इस्तेमाल करते हैं। मसलन एक कार कंपनी सिर्फ़ 'प्रीमियम' या 'ए' सिनेमा में विज्ञापन देना चाहेगी जबकि पान मसाले का निर्माता 'बी' या 'सी' सिनेमा में।

'पीवीआर' और 'गोलचा' में दिखाए गए विज्ञापनों में क्या अंतर होगा? श्री चाको के मुताबिक़ 'मारुति' जैसी कंपनी 'गोलचा' में विज्ञापन नहीं दिखाना चाहेगी लेकिन 'ह्युंडई' फिर भी दिखाएगी, क्योंकि वो मानते हैं कि पुरानी दिल्ली में भी पैसे वाले लोग रहते हैं, ... तो वो भले ही 'इलांट्रॉ' जैसी बड़ी गाड़ी का विज्ञापन न दिखाएँ, 'सैंट्रो' का तो दिखाएँगे ही। 'सैंट्रों' तो आराम से पुराने शहर की सँकरी गलियों में पार्क की जा सकती है।

'इंपीरियल' जैसे हॉलों का क्या, जहाँ मज़दूर वर्ग की जनता आती है और जहाँ पहली रिलीज़ नहीं

होती? श्री चाको के अनुसार, वो अभी भी इन हॉलों में मौजूद हैं। हाल में तम्बाकू और गुटखों के विज्ञापनों को पूरी तरह प्रतिबंधित करने से पहले तक ये कंपनियाँ इन उत्पादों का ऐसे हॉलों में विज्ञापन दिखाती थीं।

तो दिल्ली में कोई ऐसा हॉल है जिसमें सैलवोज़ विज्ञापन नहीं देता? 'शीला'। 'शीला' की अपनी विज्ञापन एजेंसी है, वो सैलवोज़ को स्क्रीन टाइम नहीं देते। शुरुआत से ही जब 'ब्लेज़ ऐडवर्टाज़िंग' का तगड़ा काम था – 'शीला' की यही नीति रही है। श्री चाको के अनुसार 'शीला' का यह रुख़ पहला 70 एम एम सिनेमा हॉल होने के अहम के कारण है।

किन हॉलों के दर्जों में सुधार आया है, उन्नति हुई है ...? श्री चाको ने 'अलंकार' का नाम लिया, जो 'थ्री सी' सिनेप्लेक्स बनकर 'ए' से 'प्रीमियम' श्रेणी में आ गया है। उन्होंने 'ग्रैंडलेज़' का भी ज़िक्र किया, जो 'बीसी एक्स' बनकर जल्दी ही खुलने वाला है। फिर मैंने उनसे उन हॉलों के बारे में पूछा जिनका दर्जा गिरा है, लेकिन ऐसा लगा कि चाको जवाब देने से मुकर रहे थे या हिचकिचा रहे थे। फिर मैंने ऐन कनॉट प्लेस के सिनेमा हॉलों के बारे में पूछा जिनमें से ज़्यादातर बुरे दौर से गुज़र रहे हैं। उन्होंने कहा कि 'रिवोली' तो बंद हो गया है, तो उसके संदर्भ में श्रेणी से क्या फ़र्क़ पड़ता है। 'रीगल' 'ए' क्लास था और 'ए' क्लास रहेगा। हालाँकि उस पर मुक़दमा चल रहा है। इस वजह से उसमें नवीनीकरण का कोई काम नहीं हो सका है। वहाँ अभी भी फ़िल्में 'फ़र्स्ट रिलीज़' होती हैं। आख़िर हॉल कनॉट प्लेस में है!

अंत में मैने श्री चाको से पूछा कि 'सैलवोज़' की नज़र में उसके पन्द्रह सालों के इतिहास में ग्राहकों में किस तरह का बदलाव आया है? उन्होंने कहा कि पहले फ़िल्म विज्ञापन पर सबसे ज़्यादा पैसा ख़र्च करने वाली कंपनियाँ थीं 'हिन्दुस्तान लीवर' और 'प्रॉक्टर ऐंड गैंबल' और अब कार और मोबाइल फ़ोन की कंपनियाँ सिनेमा विज्ञापन पर सबसे ज़्यादा पैसे ख़र्च करती हैं।